

□ विद्यावती जैन, एम० ए०, साहित्यरत्न (आरा)

## जैन-दर्शन का कबीर-साहित्य पर प्रभाव

□

प्राकृत-अपभ्रंश के जैन कवियों ने एक ओर जहाँ प्रबन्ध-चरित-काव्यों की रचना की है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने दर्शन-समन्वित रहस्यवादी ऐसे काव्यों की भी रचनाएँ की हैं, जो दर्शन एवं अध्यात्म के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं तथा परवर्ती जैनतर साहित्य पर भी जिन्होंने अपना अमिट प्रभाव डाला है। फिर भी उनकी यह विशेषता रही है कि उनकी कृतियों में साम्प्रदायिक-गन्ध लेशमात्र भी नहीं। कुछ समय पूर्व जैन-कवियों पर यह आरोप लगाया जाता था कि उनकी रचनाएँ साम्प्रदायिक एवं धार्मिक-संकीर्णताओं से परिपूर्ण हैं। उनमें मात्र जैनधर्मोचित उपदेश और नीरस सिद्धान्तों का ही विवेचन किया गया है और इसलिए वे साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। किन्तु अनेक शोध-विद्वानों ने अपने गहन अन्वेषणों द्वारा इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर यह प्रमाणित कर दिया है कि जैन रचनाओं में काव्य की कई विधाओं के विकसित प्रयोग मिलते हैं। ये हमें लोकभाषा के काव्य रूपों को समझने में जहाँ सहायता पहुँचाते हैं, वहीं उस काल की भाषागत अवस्थाओं और प्रवृत्तियों को समझने की कुंजी भी प्रदान करते हैं।

जैन कवियों का ध्यान दर्शन एवं अध्यात्म की ओर अधिक रहा और आरम्भ से ही वे आत्मा, परमात्मा, कर्म, मोक्ष, सहज-समाधि, समरस, अक्षरज्ञान जैसे गूढ़तम विषयों पर अपने विचार व्यक्त करते रहे हैं। ऐसे कवियों में मुनि योगीन्दु (छठवीं सदी) रामसिंह (११वीं सदी) एवं आनन्दतिलक (१२ वीं सदी) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। योगीन्दु ने 'परमप्पयासु' एवं 'जोइसारु' नामक ग्रन्थों की रचना की। उनमें उन्होंने संकीर्ण मत-मतान्तरों तथा व्यर्थ के साम्प्रदायिक विवादों में न पड़कर स्वानुभूति और स्वसंवेद्यज्ञान को ही प्रमुखता दी तथा अपने जीवन में जिस चरमसत्य का अनुभव किया, उसे स्पष्ट और निर्भीक शब्दावली में अभिव्यक्त भी किया।

योगीन्दु के बाद मुनि रामसिंह एवं आनन्दतिलकसूरि की रचनाएँ विशुद्ध दार्शनिक रहस्यवाद की कोटि में आती हैं। मुनि रामसिंह ने 'पाहुडदोहा' एवं आनन्दतिलक ने 'आणंदा' नामक रचनाओं का सृजन किया। उन रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने रूढ़िगत परम्पराओं का अन्धानुकरण नहीं किया, किन्तु बाह्याडम्बरो एवं पाखण्डों का तीव्र शब्दों में खण्डन कर लोक को जीवन्मुक्ति का नया संदेश दिया। वस्तुतः इन कवियों ने जीवन एवं जगत के परिवर्तित मूल्यों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कई महत्वपूर्ण दार्शनिक तत्त्वों का मौलिक एवं लोकानुकूल चिन्तन मार्मिक भाषा-शैली में प्रस्तुत किया है। सहज एवं स्वसंवेद्य-ज्ञानानुभाव, जड़ एवं घिसी-पिटी बातों के विरोध में एक निर्भीक क्रान्ति तथा आचार एवं विचार की समरसता में विश्वास जगाने वाली उक्त कवियों की यह विचारधारा सार्वजनीन एवं जनभाषा (अपभ्रंश) में होने के कारण इतनी लोकप्रिय एवं प्रेरक सिद्ध हुई कि परवर्ती कई जैनतर सन्तकवियों ने उससे प्रभावित

होकर उनके कितने ही विचारों को आत्मसात् कर लिया। इस प्रसंग में कबीर-साहित्य को उदाहरण-स्वरूप लिया जा सकता है। कबीर के समस्त साहित्य पर उक्त कवियों का प्रभाव दिखलाना स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है, फिर भी उसके कुछ महत्वपूर्ण दार्शनिक-तत्त्वों पर प्रकाश डालने का यहाँ प्रयत्न किया जा रहा है।

### आत्मज्ञान

शास्त्रागमों का ज्ञान तभी सफल माना जाता है जब साधक आत्मज्ञान प्राप्त कर ले। उसके प्रति अपनी रुचि जागृत कर ले, क्योंकि शुद्धात्मा का अनुभव ही मोक्षमार्ग है। शुद्धस्वरूप की अनुभूति से ही आत्मा निर्विकार होते-होते परमस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। अतः सन्तकवियों ने कोरे अक्षरज्ञान का निरन्तर विरोध किया और एक अक्षरज्ञान का उपदेश दिया है। मुनि रामसिंह ने इस एक अक्षरज्ञान को ही 'आत्मज्ञान' की संज्ञा प्रदान की है, क्योंकि आत्मा ही आत्मा को प्रकाशित करती है। अनुभव-जन्य-ज्ञान को सर्वोपरि मानकर और उसे शास्त्रज्ञान से ऊँचा स्थान देकर निस्सन्देह ही उन्होंने सामान्यकोटि के साधकों के लिये ज्ञानानुभूति के मार्ग का एक समर्थ आत्मबल प्रदान किया है। कहा भी गया है—

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ, चित्त ण लग्गइ अण्णु ।

मरगउ जे परियाणियउ, तहु कच्चें कउ गण्णु ॥७८॥

अर्थात् जिसने मरकतमणि को प्राप्त कर लिया है, उसे कांच के टुकड़ों से क्या प्रयोजन है ? उसी तरह जिसका चित्त आत्मा में लग गया, उसको दूसरे पदार्थों की वाञ्छा नहीं रहती। आगे योगीन्दु कहते हैं—

सत्थ पढंतह ते वि जइ, अप्पा जे ण मुणंति ।

तहिं कारणि ए जीव, फुड्डु णहु णिग्वाणु लहंति ॥५३॥

—योगसार, पृ० ३८३

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि, तो णिग्वाणु लहेहि ।

पर अप्पा जइ मुणहि, तुहुँ तो संसार भमेहि ॥१३॥

—योगसार, पृ० ३७३

जसु मणि णाणु ण विपफुरइ, कम्महं हेउ करंतु ।

सो मुणि पावइ सुक्खणवि, सयलइँ सत्थ मुणंतु ॥२४॥

—पाहुडदोह, पृ० ८

संत कबीर भी उक्त जैन कवियों की तरह परमात्मतत्त्व को ही सर्वोत्कृष्ट मानकर आत्म-विचारक को परमज्ञानी कहते हैं। जिस परमतत्त्व की खोज के लिये लोग दुनिया भर के तीर्थों के तट पर जाते हैं, वह तत्त्वरत्न तो स्वयं उन्हीं के पास विराजमान है, किन्तु ज्ञानचक्षु जाग्रत न होने के कारण वे उसे देख नहीं पाते। वेदपाठियों एवं कोरे अक्षरज्ञानियों को डाँट-फटकार लगाते हुए वे कहते हैं कि पंडित लोग पढ़-पढ़ कर वेदज्ञान की चर्चा तो कहते हैं, किन्तु स्वयं के भीतर स्थित बड़े भारी तत्त्व—ब्रह्म या आत्मा को नहीं जानते; इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी ? वे कहते हैं—

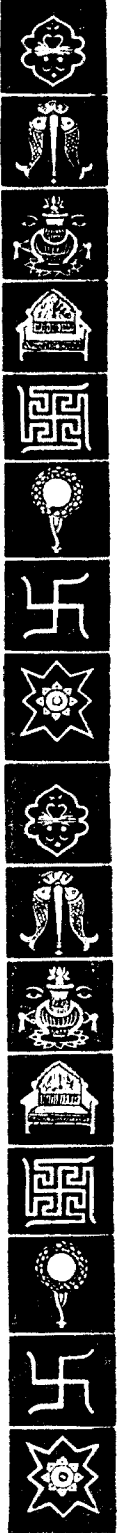
कथता बकता सुरता सोई, आप विचारं सो ग्यांनी होई ।

जिस कारनि तट तीरथ जांही, रतन पदारथ घट ही मांहीं ॥

पढ़ि-पढ़ि पंडित वेद बखानें, भीतरि हूती बसत न जाणें ॥४२॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३४२

आचार्य प्रवचन श्री आनन्द श्रेष्ठ अन्ध-दुःख-श्री आनन्द श्रेष्ठ अन्ध-दुःख



३४४ धर्म और दर्शन

कबीर सोच बिचारिया, दूजा कोई नाहि ।  
आपा पर जब चीन्हियां, तब उलट समाना मांहि ॥३॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४४

कौन विचार करत हौ पूजा । आत्म राम अवर नहीं दूजा ॥  
पर-आत्म जो तत्त विचारै । कहि कबीर ताकै बलिहारै ॥१३५॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३६६

आत्मज्ञानी साधक ईंट एवं पत्थरों से बने हुए जड़ भवनों में परमात्मा की खोज नहीं करते । उनकी दृष्टि से अज्ञान के कारण जगत में व्यवहार को ही सत्य माना जाता है । आत्मज्ञानी तो यही कहते हैं कि घड़े को कुम्हार ने बनाया है । ऐसा कोई नहीं कहता कि घड़ा मिट्टी का बना है, यथार्थतः घड़े में मिट्टी का ही रूप है । मिट्टी का पिंड ही घड़ा के रूप में परिवर्तित हुआ है । कुम्हार का योग तो निमित्तमात्र है । इसी प्रकार तीर्थस्वरूप जिन-प्रतिमाएं भी केवल निमित्तमात्र हैं । उनके द्वारा अपने शुद्धात्मा के सृष्टण परमात्मा का स्मरण अवश्य हो जाता है, किन्तु क्षेत्र या प्रतिमा या मन्दिर सभी तो अचेतन, जड़ हैं । फिर भी अज्ञानी व्यक्ति उन्हें ही सब कुछ समझ कर तीर्थाटनादि करते रहते हैं । आत्मज्ञान-प्राप्ति में नहीं लगते । वे इस रहस्य को ही नहीं समझ पाते कि उनका आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है और वह स्वयं उन्हीं के शरीर में विद्यमान है । योगीन्दु ने लिखा है—

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं णिएइ ।  
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ॥

—योगसार, पृ० ३६०

देहा देवलि सिउ वसइ तुहुँ देवलइँ णिएहि ।  
हासउ महु मणि अत्थि इहु सिद्धेँ भिक्ख भमेहि ॥

—पाहुडदोहा, पृ० ५६

सन्त कबीर भी शरीर को देवालय मानते हैं । वे कहते हैं कि लोग अज्ञानवश परमात्मा की खोज सैकड़ों कोश दूर स्थित तीर्थों एवं मन्दिरों में तो करते हैं, किन्तु उनके ही शरीर में जो परब्रह्म परमात्मा है, उसे वे नहीं देख पाते । इसका मूल कारण उनके अन्तर् में समाहित माया एवं भ्रम ही है । यदि वे उतार फेंकें, तो उसमें समाहित अलख निरञ्जन स्वयं ही प्रत्यक्ष हो जायेगा । वे कहते हैं—

हरि हिरदं रे अनत कत चाहौ, भूलं भरम दुनों कत बाहौ ॥१७०॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४१०

कबीर दुनियाँ दे हुरै, सीस नवावण जाइ ।  
हिरदा भीतर हरि बसै, तू ताही सौ ल्यो लाइ ॥११॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१७

कबीर यहू तो एक है, पड़दा दीया भेष ।  
भरम करम सब दूरि करि, सबहीं मांहि अलेष ॥१८॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२२

**जनों का परमात्मतत्त्व और कबीर का ब्रह्म**

गम्भीर चिन्तन के बाद जैन कवियों ने आत्मा और परमात्मा विषयक अपने मौलिक विचार बड़े ही उन्मुक्त भाव से व्यक्त किये हैं। उनके शब्दों में कर्मरहित आत्मा ही परमात्मा है। जब तक कर्मबन्ध रहता है, तभी तक यह जीव संसार-वन में भ्रमण करता रहता है एवं पराधीन होकर दूसरे का जाप करता रहता है, किन्तु जब उसे अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब उस समय यही आत्मा, परमात्मा बन जाता है।

सभी रहस्यवादी कवियों का यह भी विश्वास है कि परमात्मा का निवास शरीर में ही है। मुनि योगीन्दु ने कहा है कि जो शुद्ध, निर्विकार आत्मा लोकाकाश में स्थित है, वही इस देह में भी विद्यमान है। उन्होंने इसी देह में उनके दर्शन करने का उपदेश दिया है। यथा—

**जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ ।**

**तेहउ णिवसइ बंभु पर देहहँ मं करि भेउ ॥२६॥** —परमात्मप्रकाश, पृ० २३

अर्थात्—जैसा केवलज्ञानादि अनन्तगुण रूप सिद्ध परमेष्ठी देवाधिदेव परम आराध्यदेव मुक्ति में निवास करता है, वैसा ही परब्रह्म, शुद्ध, बुद्ध स्वभाव वाला परमात्मा इस शरीर में तिष्ठता है, इसलिए सिद्ध भगवान में और अपने में भेद मत करो।

योगीन्दु को उक्त कथनमात्र से ही सन्तोष नहीं हुआ, अतः उसी बात को पुनः दुहराते हैं और कहते हैं कि शरीर स्थित जो यह आत्मा है, वही परमात्मा है—

**णियमणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ ।**

**हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥११२॥** —परमात्मप्रकाश, पृ० १२३

अर्थात्—रागादि तरंगों से रहित ज्ञानियों के मन में अनादि देव शुद्धात्मा निवास कर रहा है। जैसे हंसों का निवासस्थान मानसरोवर है, उसी प्रकार ब्रह्म का निवासस्थान ज्ञानियों का निर्मल चित्त है।

कबीर ने भी अपने आत्मा में ही परमात्मा के दर्शन करने का अनुरोध किया है। वे कहते हैं कि आत्मा एवं परमात्मा एक ही हैं और उसका निवास स्वयं के शरीर रूपी देवालय में ही है। इसके लिए वे मृग-कस्तूरी की उपमा देते हुए कहते हैं—कि जिस प्रकार मोहवश मृग स्वयं स्थित कस्तूरी-गन्ध की खोज में इधर-उधर तो भटकता रहता है, किन्तु अज्ञानवश अपनी नाभि में उसे नहीं देख पाता, उसी प्रकार मोह, माया, एवं अज्ञानवश लोग परमात्मा की खोज तीर्थों, मन्दिरों एवं मस्जिदों में तो करते हैं, किन्तु अपने शरीर में ही स्थित उसकी खोज नहीं करते। वे कहते हैं—

**हरि में तन है, तन में हरि हैं, है मुनि नाही सोइ ॥२६३॥** —कबीर ग्रं०, पृ० ४७७

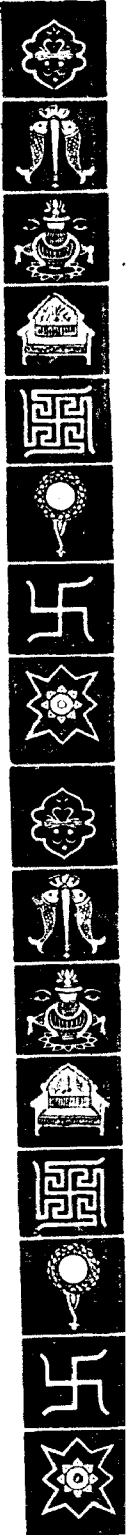
अर्थात् हरि में ही शरीर है, हरि शरीर में तथा यह शरीर रहता भी नहीं।

**झंसा निकट जुघटु रहिओ दूरि कहा तजि जाइ ।**

**जा कारिणि जग दूडि अउ नेरउ पाइ अउ ताहि ॥१६॥** —सन्तकबीर, पृ० ८०

अर्थात्—जब चंचु (अर्थात् शरीर) के निकट ही घर (अर्थात् आत्मा) उपस्थित है तब उसे छोड़कर दूर खोजने क्यों जाता है? जिस कारण से उस परमात्मा को संसार में खोजता फिरा, वह तो तू अपने समीप ही पा सकता है।

**आचार्यप्रवचन अभिरुचि आचार्यप्रवचन अभिरुचि**  
**श्रीआनन्दश्रेष्ठ अन्धदुःखी श्रीआनन्दश्रेष्ठ अन्धदुःखी**



३४६ धर्म और दर्शन

कस्तूरी कुंडली बसे, मृग दूंडे बन मांहि ।

ऐसे घटि घटि राम हैं, दुनिया देखे नांहि ॥१॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृ० २६७

अर्थात् कस्तूरी तो मृग की कुंडली में रहती है, किन्तु उसको न जानने वाला मृग गन्ध को, कहीं अन्यत्र से आता हुआ जानकर जंगल के पौधों में दूंडता फिरता है, ठीक इसी प्रकार राम भी घट-घट में बसे हुए आनन्द की तरंगों को लहराते हैं, किन्तु दुनिया उन्हें नहीं जान पाती, अतः मृग की तरह जगतारण्य में उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करती है ।

मुनि योगीन्दु एवं रामसिंह ने परमात्मा को वर्ण, रस, गन्ध एवं स्पर्श रहित बतलाया है । उनके अनुसार वीतराग, निराकार, निर्विकार, अजर एवं अमर है । उस निरञ्जन स्वरूप शुद्धात्मा को ही उन्होंने उपादेय कहा है ।

जा सुण वण्ण ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।

जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ गिरंजणु तासु ॥१६॥ —परमात्मप्रकाश, पृ० २७

जिस भगवान के सफेद, काला, लाल, पीला, नील स्वरूप पांच प्रकार वर्ण नहीं हैं, सुगन्ध-दुर्गन्ध रूप दो प्रकार की गन्ध नहीं है, कषाय रूप पांच रस नहीं है, जिसके माषा-अमाषारूप शब्द नहीं है । शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु, कठिन रूप आठ तरह का स्पर्श नहीं है और जो जन्म, जरा, मृत्यु से रहित है, उसी चिदानन्द शुद्धस्वभाव परमात्मा की निरञ्जन संज्ञा है ।

देहहि उब्भउ जरमरणु देहहि वण्ण विचित्त ।

देहहो रोया जाणि तुहँ देहहि लिगइँ मित्त ॥३४॥

अत्थि ण उब्भउ जरमरणु रोय वि लिगइँ वण्ण ।

णिच्छइ अप्पा जाणि तुहँ जीवहो णेक्क विसण्ण ॥३५॥

वण्ण विहणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ ।

संतु गिरंजणु सो जि सिउ तहिँ किञ्जइ अणुराउ ॥३६॥ —पाटुड, पृ० १२

कबीर ने योगीन्दु एवं रामसिंह के समान ही परमात्मा की चर्चा करते हुए कहा है कि वह अलख, निरञ्जन, निराकार, वर्ण-विहीन, रूप-रेख-विहीन, वेद-विवर्जित, पाप-पुण्य-विवर्जित एवं भेष-विवर्जित है—

अलख निरञ्जन लखे न कोई, निरभं निराकार है सोई ।

सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्विष्टि अद्विष्टि छिप्यो नहीं पेखा ॥

बरन अबरन कथ्यो नहीं जाई, सकल अतीत चट रह्यो समाई ॥१३॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५४२

वेदविवर्जित, भेद विवर्जित, विवर्जित पापरु पुण्यं ।

ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित, विवर्जित असथूल सुंयुं ॥

भेष विवर्जित भोख विवर्जित, विवर्जित ड्यंभक रूपं ।

कहै कबीर तिहँ लोक विवर्जित, ऐसा तत्त अनूपं ॥२२॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४३६

### परमब्रह्म के विविध नाम

ज्ञानस्वरूप अविनाशी परमात्मा को यदि किसी भी नाम से पुकारा जाय तो उसके गुण और स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता । इसलिए जैन-कवियों ने परमात्मा को अनेक नामों से

सम्बोधित किया है। उनका विश्वास था कि परमात्मा को किसी भी नाम से पुकारा जाय, उसका तात्पर्य केवल अखण्ड अविनाशी ब्रह्म आत्मा या परमात्मा से होगा। ये कवि भेद की संकीर्णता को प्रश्रय नहीं देते। उनका कथन था कि निर्विकल्प 'परमात्मा' ही राम, विष्णु अथवा ब्रह्म है। योगसार में तो मुनि योगीन्दु यहाँ तक कह गये हैं कि आत्मा ही देव है, अरहंत, सिद्ध है, मुनि है, वही आचार्य, गुरु है, शिव है, वही शंकर है अथवा ब्रह्मा, विष्णु और अनन्त है—

अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ विद्याणि ।

सो उवज्ञायउ सो जि मुणि णिच्छइँ अप्पा जाणि ॥१०४॥

सो सिउ संकरु विणहु सो रुद्दु वि सो बुद्धु ।

सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु ॥१०५॥

निश्चय से आत्मा ही अरहन्त है, वही सिद्ध, आचार्य है और उसे ही उपाध्याय तथा मुनि समझना चाहिये। वही शिव है। वही शंकर एवं विष्णु है। वही रुद्र, बुद्ध, जिन, ईश्वर, ब्रह्मा एवं अनन्त है और उसी को सिद्ध भी कहना चाहिए।

कवि के उक्त कथन का यह अर्थ नहीं कि जैन कवि अवतारवाद के समर्थक थे। इन कवियों ने अवतारवाद का सर्वत्र खण्डन किया है, क्योंकि जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु भी अनिवार्य है और जो मरणशील है वह अविनाशी एवं अजर-अमर कैसे हो सकता है? तथा जो अविनाशी नहीं है, वह परमात्मा कैसे हो सकता है? यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये कवि जब राम, शिव और ब्रह्मा का नाम लेते हैं, तो उनका तात्पर्य यह नहीं रहा कि वे दशरथ-सुत 'राम,' कैलासवासी शिव अथवा सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा या शुद्धोदनपुत्र बुद्ध हैं। वह समस्त नामावली तो आत्मा की ही प्रतीक अथवा पर्यायवाची है। जिसका न आदि है, न अन्त। अनन्त उसके नाम हैं और वह अचिन्त्य है।

कबीरदास भी अवतारवाद के विरोधी थे। उन्होंने भी उस परम ब्रह्म परमात्मा को अनेक नामों से सम्बोधित किया है। अपने इष्टदेव को किसी भी नाम से पुकारने में उन्हें हिचक का अनुभव नहीं हुआ। उनको किसी प्रकार की संकीर्णता मान्य नहीं। किन्तु फिर भी उन्होंने ब्रह्म के आह्वान के लिए सर्वाधिक 'राम' शब्द का प्रयोग किया है। उन्हें परमब्रह्म के अन्य समस्त नामों में यही नाम सर्वाधिक प्रिय रहा है। किन्तु कबीर का वह 'राम' भक्तों का सर्वस्व एवं भूमि का भार-हरण करने के लिये अवतार धारण करने वाला दशरथपुत्र राम नहीं, या यशोदापुत्र कृष्ण नहीं है। उनके 'राम,' 'कृष्ण' पौराणिक 'राम' 'कृष्ण' न होकर सबसे भिन्न और सबसे ऊपर परम आत्मा के ही प्रतीक हैं—

नां जसरथ घरि औतरि आवा, नां लंका का राव संतावा ।

देवं कूल न औतरि आवा, ना जसवं ले गोद खिलावा ॥

बांवन होय नहीं बलि छलिया, धरनी बेद लेन उघरिया ।

बद्री बैस्य ध्यान नहीं लावा, परसरोम हूँ खत्रीन संतावा ॥

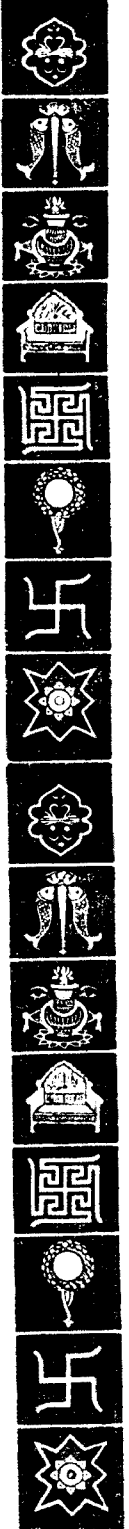
कहै कबीर विचार करि, ये ऊलं व्योहार ।

याही थें जे अगम है, सो बरति रह्या संसार ॥४१॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६३

कबीर की यह मान्यता रही है कि जो जन्म लेता है और मरता है, वह राम नहीं, माया है। समस्त विश्व के नष्ट हो जाने पर भी कबीर का राम अविनश्वर है। वह दूर खोजने की वस्तु नहीं, अपितु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है—

आचार्यप्रवृत्तः श्रीआनन्दः ॥ अमिन्दुः ॥ आचार्यप्रवृत्तः श्रीआनन्दः ॥ अमिन्दुः ॥ अमिन्दुः ॥



३४८ धर्म और दर्शन

कहे कबीर सब जग विनस्या राम रहे अविनाशी रे ॥२६५॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४६३

### निरञ्जन

निरञ्जन शब्द के विषय में विभिन्न प्रकार की विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं। कुछ विचारक उसे कालपुरुष, शैतान, दोषी, पाखण्डी आदि निन्दात्मक अर्थों में लेते हैं तो कुछ लोग परमब्रह्म, परमपद, बुद्ध, प्रभृति प्रशंसात्मक अर्थों में। जैन-साहित्य में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कुन्दकुन्दाचार्य ने किया है। उनके अनुसार 'निरञ्जन' शब्द, उपयोग अर्थात् चेतन या आत्मा का ही नामान्तर है। यथा—

ए एसु य उवओगो तिविहो सुद्धो गिरंजणो भावो ॥६०॥

—समयसार, पृ० ११५

अर्थात् उपयोग आत्मा का शुद्ध निरञ्जन-भाव है।

आचार्य कुन्दकुन्द की निरञ्जन की यह परिभाषा भले ही अपने समय में एकार्थक के रूप में रही हो, किन्तु आगे चलकर इसकी परिभाषा पर्याप्त विकसित हुई। यही विचार-धारा विकसित रूप में जोइन्दु में प्रस्फुटित हुई और मुनि रामसिंह से विकसित होती हुई कबीर में मुखरित हुई दिखाई देती है। आचार्य जोइन्दु ने अपने 'परमप्ययासु' में 'निरञ्जन' शब्द का प्रयोग 'रागादिक उपाधि एवं कर्ममलरूपी अञ्जन से रहित' के अर्थ में किया है। यथा—

णिच्चु गिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।

जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिञ्जहि भाउ ॥१७॥

—परमात्मप्रकाश, पृ० २६

अर्थात् जो अविनाशी, अंजन से रहित, केवलज्ञान से परिपूर्ण और शुद्धात्मभावना से उत्पन्न हुए वीतराग परमानंद से युक्त हैं, वे ही शान्तरूप और शिवस्वरूप हैं, उसी परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

आगे चलकर उन्होंने चिदानंद शुद्धस्वभाव परमात्मा को भी 'निरञ्जन' विशेषण से विभूषित किया है। 'गिरंजण' का जो तत्व-निरूपण जैन कवियों ने किया, आगे चलकर वह पौराणिक रूप पा गया। निरञ्जन की अन्तिम परिणति देवतारूप में हुई, यद्यपि वह परमात्म-तत्व विश्व में व्यापक है और विश्व उसमें व्यापक है। तथापि वह मनुष्य के शरीर-मन्दिर में भी ज्ञानस्फुरण के रूप में अनुभूत होता है—

जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि ।

जग जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमपउ सो जि ॥४१॥

—परमात्मप्रकाश, पृ० ४५

मुनि रामसिंह ने भी 'निरञ्जन' शब्द को परमतत्व के रूप में ही लिया है। दर्शन और ज्ञानमय निरञ्जन देव परम आत्मा ही है। जब तक निर्मल होकर परम निरञ्जन को नहीं जान लिया जाता, तभी तक कर्मबन्ध होता है। इसलिए उसी को जानने का प्रयत्न करना चाहिए—

कम्म पुराइउ जो खवइ अहिणव ये सु ण वेइ ।

परम गिरंजणु जो णवइ सो परमपउ होइ ॥७७॥

पाउवि अप्पाहिं परिणवइ कम्महूँ ताम करेइ ।

परमगिरंजणु जाम ण वि णिम्लु होइ मुणेइ ॥७८॥

अणु णिरंजणु देउ पर अप्पा दंसण णाकु ।

अप्पा सच्चउ मोक्ख पहु एहउ मूढ वियाणु ॥७९॥

—पाहुडदोहा, पृ० २४

कबीर ने भी 'निरञ्जन' शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिए ही किया है। कबीर जहाँ निरञ्जन से परमतत्व की ओर संकेत करना चाहते हैं, वहीं पर वे उस तत्व को निर्गुण और निराकार भी बतलाते हैं। उनका कथन है—

गोव्यंदे तूँ निरंजन तूँ निरंजन राया ।

तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं माया ॥२१९॥

—कबीर ग्रन्थावली, ४३९

कबीर के अनुसार यदि महारस का अनुभव करना है, तो निरञ्जन का परिचय प्राप्त कर उसे हृदय में बसा लेना आवश्यक है। कबीर के विचार से विश्व के समस्त दृश्यमान् पदार्थ अञ्जन हैं और निरञ्जन इन पदार्थों से नितान्त पृथक् है। यथा—

अंजन अल्प निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहु विचार ।

अंजन उतपति बरतनि लोइ, बिना निरंजन मुवित न होई ॥३४७॥

कबीर ने इस निरंजन तत्व के सहारे सबसे बड़ा जो कार्य किया, वह है हिन्दू और मुस्लिम के बीच भेदभाव की बढ़ती हुई खाई को पाटना। हिन्दू और तुर्क दोनों की पद्धतियाँ उन्हें मान्य नहीं थीं, क्योंकि उनका तो एक निरंजन तत्व ही आराध्य था और उसी की आराधना उनके लिये सर्वोपरि थी। वे कहते हैं—

एक निरंजन अल्लह मेरा, हिन्दू तुरक दुहूँ नहीं मेरा ।

समरसता

आचार्य द्विवेदा के अनुसार 'पिण्ड में मन का जीवात्मा में तिरोभूत हो जाना या एकमेक होकर मिल जाना ही सामरस्य है।' जैन कवियों की भी यही मान्यता रही है कि प्रत्येक प्राणी में परमतत्व की अवस्थिति है, किन्तु अज्ञान का पर्दा पड़े रहने के कारण प्राणी उस परमतत्व का साक्षात्कार नहीं कर सकता। उसे तो आन्तरिक शुद्धि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। जीव परमतत्व से ऐक्य की स्थिति में उस तत्व को अन्दर ही प्राप्त कर लेता है। जीव की इस दशा का वर्णन मुनि योगीन्दु, रामसिंह एवं आनन्दतिलकसूरि ने भी किया है। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि मन का जीवात्मा में ऐक्य हो जाना ही सामरस्य है।

मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स ।

वोहि वि समरसि-हूवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स ॥१२३॥

—परमात्मप्रकाश, पृ० १२५

अर्थात् मन परमेश्वर से मिल गया—तन्मय हो गया और परमेश्वर भी मन से मिल गया, दोनों समरस हो गये, तब ऐसी स्थिति में पूजा का प्रयोजन समाप्त हो गया।

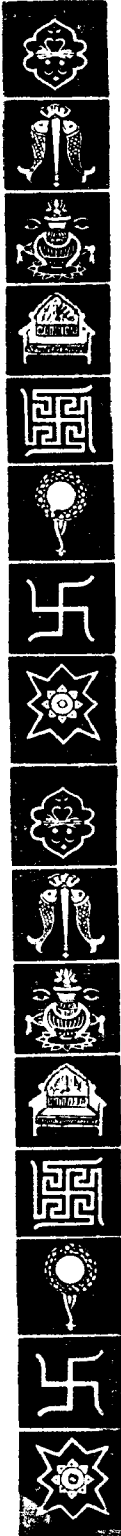
मुनि रामसिंह ने भी मुनि योगीन्दु के दृष्टान्त को ही प्रस्तुत किया है। वे भी कहते हैं कि जब विकल्प रूप मन भगवान् आत्माराम से मिल गया और ईश्वर भी मन से मिल गया, दोनों समरसता की स्थिति में पहुँच गये, तब पूजा किसे चढ़ाऊँ? यथा—

मणु मिलियउ परमेसरहो, परमेसरु जि मणस्स ।

विण्णा वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउँ कस्स ॥४९॥

—पाहुडदोहा, पृ० १६

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन  
श्रीआनन्दरु श्रीआनन्दरु श्रीआनन्दरु श्रीआनन्दरु





३५० धर्म और दर्शन

आगे वे इसी अद्वैतावस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जैसे नमक पानी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार चित्त निरंजन से मिल जाता है और जीव समरसता की स्थिति में पहुँच जाता है, तो किसी अन्य समाधि की आवश्यकता नहीं रह जाती। वे कहते हैं—

जिम लोणु विलिज्जइ पाणियहँ तिम जइ चित्त विलिज्ज ।

समरसि हूवइ जीवडा काइँ समाहि करिज्ज ॥१७६॥

—पाहुडदोहा, पृ० ५४

आनन्दतिलक के अनुसार भी समरसता की स्थिति में ही साधक अपनी आत्मा का दर्शन करता है।

समरस भावें रंगिया अप्पा देखइ सोई ॥४०॥ —आणंदा

कबीरदास ने भी जैन कवियों के समान ही आत्मा-परमात्मा के इस मिलन को समरसता कहा है। इन्होंने इस सामरस्य-भाव के लिये उक्त कवियों के भावों को ही अपनी भाषा में व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

मेरा मन सुमरं राम कूँ, मेरा मन रामहि आहि ।

अब मन रामहि हूँ रहा, सीस नवावौ काहि ॥१८॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११०

आगे वे नमक, पानी का ही दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। जिसमें मुनि रामसिंह के पद्य का पूर्ण भाव समाहित है—

मन लागा उन मन सौँ, उन मन मनहि विलग ।

लूँण बिलगा पाणियाँ, पाणि लूँण विलग ॥१६॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३६

मुनि योगीन्दु ने योगसार में आत्मा-परमात्मा के मिलन की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव परमतत्व से ऐक्य की स्थिति में उस तत्व को अपने अन्दर ही प्राप्त कर लेता है। ऐसी दशा में उसे विश्व के सभी प्राणियों में उस परमतत्व की सत्ता आभासित होने लगती है, तब दोनों में कोई भेद ही नहीं रह जाता। जो ज्ञानस्वरूप परमात्मा है, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही परमात्मा है। इसमें किसी प्रकार का विकल्प नहीं करना चाहिये। यथा—

जो परमप्पा सो जि हऊँ, जो हउँ सो परमप्पु ।

इउ जाणं बिणु जोइया, अणु म करहु वियप्पु ॥२॥

—योगसार, पृ० ३७५

कबीर ने भी मुनि योगीन्दु के अनुकरण पर ही उसी 'अहं' रूप 'त्वं' की स्थिति को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ में रही न हूँ ।

बारी केरी बलि गई, जित देखों तित तूँ ॥६॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११०

चित्तशुद्धि

शाश्वत सुख-प्राप्ति हेतु बाह्य-शुद्धि की अपेक्षा अन्तर्शुद्धि अत्यावश्यक है। आत्मा यदि क्लुषित है, वह राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि से युक्त है, तो बाह्याचार मात्र पाखण्ड एवं दिखावा है। अतः योगीन्दु, रामसिंह और आनन्दतिलक ने चित्तशुद्धि पर ही अधिक बल दिया है। उनका कथन

है कि जब तक भीतरी चित्त मलिन है, तब तक बाह्य स्नान, ध्यानादि से कोई लाभ नहीं। उसी प्रसंग में आगे वे कहते हैं कि जैसे मलिन दर्पण में रूप नहीं दिखता, उसी प्रकार रागादिक से मलिन चित्त में शुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन पाना अत्यन्त दुर्लभ है। यथा—

राएँ रंगिए हियवडए वेड ण दोसइ संतु ।  
दप्पणि मइलए बिबु जिम एहउ जाणि णिमंतु ॥१२०॥

—परमात्मप्रकाश, पृ० १२१

मुनि रामसिंह ने चित्तशुद्धि का एकमात्र प्रमुख कारण चित्त में निरंजन को धारण करना ही बतलाया है। उन्होंने कहा :—

अभिंतर चित्त वि मइलियइँ बाहिरि काई तवेण ।  
चित्ति णिरंजणु को बि धरि मुच्चाहि जेम मलेण ॥६१॥

—पाहुडदोहा, पृ० १८

उक्त विचार-परम्परा से प्रभावित होकर कबीर ने भी आन्तरिक शुद्धि पर ही अधिक जोर दिया है। उन्होंने भी मुनि योगीन्द्र के उक्त भावों को आदर्श मानकर चित्तशुद्धि का विवेचन करने हेतु आत्मा को दर्पण से उपमा दी है। दर्पण चैतन्य-आत्मा का प्रतीक है—

जौ दरसन देख्या चहिए, तो वरपन मंजत रहिए ।  
जब दरपन लागे काई, तब दरसन किया न जाई ॥

उनकी रचनाओं में यह चित्तशुद्धि अत्यधिक मात्रा में परिलक्षित होती है। उन्होंने सर्वप्रथम आत्मतत्त्व को पहचानने का उपदेश दिया। उनके अनुसार यदि आत्मतत्त्व को नहीं पहचाना गया तो बाह्य स्नानादि क्रियाएँ व्यर्थ हैं। अपने सिद्धान्त के समर्थन में उन्होंने मेंढक का मुन्दर उदाहरण दिया है। वे कहते हैं, कि 'दादुर' तो सदैव गंगा में ही रहता है, किन्तु फिर भी उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो पाती। कबीर ने गंगा-स्नानादि को व्यर्थ की मूढ़ता बतलाकर आत्मारूपी रामनाम के स्मरण को विशेष महत्व दिया है—

क्या है तेरे न्हाई धोई, आतमराम न चीन्हा सोई ।  
क्या घर ऊपर मंजन कीयै, भीतरी मेल अपारा ॥  
राम नाम बिन नरक न छूटै, जो धोवै सो बारा ।  
ज्यूं दादुर सुरसरि जल भीतरि हरि बिन मुकति न होई ॥१५८॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३२२

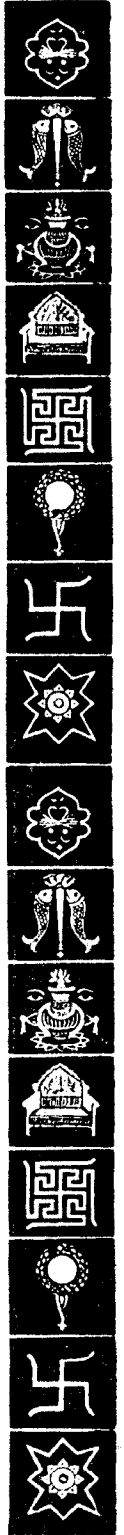
मुनि रामसिंह ने बाहरी वेष-विन्यास की भी तीव्र भर्त्सना की है। ये ऐसे योगी की तीव्र आलोचना करते हैं, जिसने अपने सिर को तो मुड़ा लिया है, किन्तु चित्त विकारों से युक्त है। क्योंकि उनकी दृष्टि में तो चित्त मुण्डन ही संसार का खण्डन करने में श्रेष्ठ सहायक है। वे कहते हैं—

मुंडिय मुंडिय मुंडिया । सिर मुंडिय चित्तु ण मुंडिया ।  
चित्तहं मुंडणु जि कियउ । संसारहं खंडण ति कियउ ॥१३५॥

—पाहुडदोहा, पृ० ४०

कबीर ने भी कहा है कि चित्तशुद्धि के अभाव में सिर मुँडा भी लिया और संन्यासी का वेश धारण कर भी लिया, तो वह सब निस्सार है—

आचार्यप्रवचन अमिनन्दन आचार्यप्रवचन अमिनन्दन  
श्रीआनन्दरत्न अन्धदुःख श्रीआनन्दरत्न अन्धदुःख



केसों कहा बिगाड़िया, जे मूँडे सौ बार ।

मन कौ काहे न मूँडिए, जामैं विषे विकार ॥१२॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२१

मूँड़ मुँडाकर पाखण्ड दिखाने वाली जैन कवियों की उक्ति कबीर साहब को इतनी अधिक रोचक एवं मार्मिक लगी कि उन्हें एक ही दोहे में उसे अपनी भाषा में व्यक्त करके सन्तोष नहीं हुआ, अतः उन्होंने 'भेष को अंग' नामक एक अलग ही प्रकरण की रचना की और अकेली दाढ़ी-मूँछ मुड़ाने वाली बात कई छन्दों में लिखनी पड़ी । उदाहरणार्थ मिलते-जुलते कुछ पद यहाँ प्रस्तुत हैं—

माला पहरया कुछ नहीं, भगति न आई हाथि ।

माथौ मूँछ मुँडाइ करि, चल्या जगत के साथि ॥१०॥

साँई सेंती साँच चलि, औरां संसुघ भाइ ।

भावे लंबे केस करि, भावे घुरड़ि मुड़ाइ ॥११॥

मूँड़ मुँडावत दिन गये, अजहूँ न मिलिया राम ।

राम नाम कहू कया करे, जे मन के औरें काम ॥१४॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२१

जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार चित्त में भी ब्रह्मविद्या और विषयविनोद दोनों एक साथ नहीं समा सकते । क्योंकि जहाँ ब्रह्म-विचार है, वहाँ विषय-विकार नहीं रह सकते और जहाँ विषय-विकार है, वहाँ ब्रह्मविचार नहीं ठहर सकता । क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं । आचार्य योगीन्दु ने कहा भी है—

जसु हरिणच्छी हिय बडए तसु णावि बंभु वियारि ।

एवकाँह केम समति बढ वे खंडा पडियारि ॥१२१॥

—पर० प्र०, पृ० १२२

संत कबीर भी योगीन्दु की इसी उक्ति के अनुसार कहते हैं—

खंभा ऐक गइद दोइ, क्यूँ करि बंध सिबारि ।

मानि करे तो पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि ॥४२॥

उक्त पद्य में खम्भा, गयंद, पीव, एवं मानी ये चार पद विचारणीय हैं । कबीर चूँकि प्रतीक-पद्धति के महाकवि माने गये हैं, इसलिये उन्होंने 'खंभे' को 'चित्त', मान एवं विषय-वासना को गइद एवं 'आराध्य' को 'पीव' की संज्ञा दी है । कबीर ने यद्यपि योगीन्दु की पूर्ण शब्दावली को नहीं लिया, किन्तु भाव-भूमि दोनों की एक है ।

#### शास्त्रज्ञान समीक्षा

जिस प्रकार बाह्याचार से मुक्ति सम्भव नहीं, उसी प्रकार कोरे ग्रन्थज्ञान से भी आत्म-तत्व की उपलब्धि सम्भव नहीं । गूढ-चिन्तन के पश्चात् उपरोक्त कवियों ने यही निष्कर्ष निकाला कि शास्त्रीय-ज्ञान में प्रवीण व्यक्ति निश्चय ही आत्मलाभ नहीं कर सकता । यथार्थतः उसे स्वसंवेद्यज्ञान की परम आवश्यकता है । प्रतीत होता है कि प्रकाश और ज्ञान के उक्त शोधियों ने शास्त्रज्ञान का विरोध इसलिए किया था, क्योंकि शास्त्रज्ञान से ही संकीर्णताओं, रूढ़ियों तथा परम्पराओं को प्रश्रय मिलता है । विभिन्न मतों के ग्रन्थों के कारण ही मतभेद होते हैं और साम्प्रदायिकता बढ़ती है । यदि एक ओर कोरे शास्त्रज्ञान को त्याज्य ठहराकर इन जैन कवियों ने जन-जीवन के लिये ज्ञान का सहज द्वार खोल दिया था, तो दूसरी ओर पण्डितों और पुरोहितों के ऊपर उन्होंने यह सीधा प्रहार भी किया था कि उनके शास्त्र पाखण्डों से परिपूर्ण

हैं तथा वर्ग-विशेष के स्वार्थ ही उनमें सुरक्षित हैं। अतः उनका अध्ययन सामान्य जनता के लिये उपयुक्त नहीं है। योगीन्दु मुनि ने उक्त कोरे शास्त्रज्ञान पर अच्छा प्रकाश डाला है। उनका दृष्टिकोण था कि व्यक्ति शास्त्रों का अध्ययन करने के पश्चात् यदि अपनी आत्मा को नहीं पहचानते तो वे निश्चित ही जड़ पदार्थ के तुल्य हैं। उनका ज्ञान कल्याणकारी-पथ का प्रदर्शक बनने योग्य नहीं —

सत्यु पढंतह ते वि जड़ अप्पा जेण मुणति ।  
तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाण लहंति ॥१३॥

—योगसार, पृ० ३८३

मुनि रामसिंह ने भी इसी विषय को लेकर 'पाहुडदोहा' में अपने विचारों को व्यक्त किया है—

बहुयई पढियई मूढ पर तालु सुक्कइ जेण ।  
एक्कु जि अक्खर तं पढ़ह शिवपुरि गम्महि जेण ॥६७॥

—पाहुडदोहा, पृ० ३०

अर्थात् बहुत पढ़ा जिससे तालु सूख गया पर मूर्ख ही रहा। उस एक ही अक्षर को पढ़, जिससे शिवपुरी का गमन हो।

मुनि योगीन्दु एवं रामसिंह के भावों को कबीर ने ज्यों-का-त्यों अपनी भाषा में व्यक्त कर दिया है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोई ।  
एकै आपरं पीव का, पढ़ं सु पंडित होई ॥४॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०२

इस प्रकार स्पष्ट है कि सन्त कबीर जैन-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों—आत्मा, परमात्मा, ज्ञान, चेतन, कर्म, समाधि प्रभृति से पर्याप्त प्रभावित रहे हैं। विशेषतया कुन्दकुन्द, गुणभद्र एवं सर्वप्रसिद्ध रहस्यवादी जैन कवि योगीन्दु, मुनि रामसिंह एवं आनन्दतिलक की क्रान्तिकारी जैन-दार्शनिक विचार-धारा ने कबीर पर अपनी सर्वाधिक गहरी छाप छोड़ी है। कहीं-कहीं तो उक्त जैन कवियों का कबीर ने उसी प्रकार अनुकरण किया है, जिस प्रकार 'गोस्वामी तुलसीदास' ने अपने 'रामचरित मानस' में स्वयम्भूक्त पउमचरित का अनुकरण किया है। सन्त कबीर का जैनेतर परिवार में जन्म होना, प्रकृति की भूल भले ही कही जा सके, किन्तु ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि उन पर जैनदर्शन एवं जैनधर्म का पूर्व संस्कार अवश्य रहा है तथा उनकी गणना उस क्रान्तिकारी जैन-परम्परा में की जा सकती है, जिस परम्परा में कई युगसृष्टा जैन-कवियों ने पाखण्डों एवं धर्म के नाम पर होने वाले स्वार्थपूर्ण धार्मिक कृत्यों और लोक में फैले हुए अन्ध-विश्वासों एवं जड़ता के विरोध में कड़ी-से-कड़ी डाँट-फटकार लगाई थी। प्रस्तुत निबन्ध में उक्त विषयों का संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन ही किया जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि जैन-दर्शन एवं कबीर-साहित्य का गम्भीर एवं विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। यह अध्ययन उन तथाकथित विद्वानों के लिये एक आदर्श उदाहरण का कार्य करेगा, जिन्होंने अपने अन्वेषणों में मात्र इस्लाम के एकेस्वरवाद, वैष्णवों के अहिंसा प्रपत्तिवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद से ही कबीर को प्रभावित माना है। उन आलोचकों ने निस्संदेह ही हृदय की संकीर्णता अथवा जैनदर्शन के अध्ययन के अभाव में ही कबीर को जैनदर्शन से प्रभावित होने का उल्लेख नहीं किया, जबकि वस्तुस्थिति भिन्न ही है। □

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन  
श्रीआनन्दरक्ष अन्ध-विश्रु श्रीआनन्दरक्ष अन्ध-विश्रु

